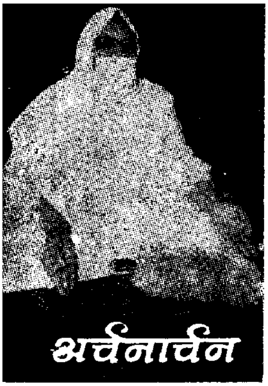

ध्याता, ध्यान और ध्येय

☐ आर्या सुप्रभाकुमारी 'सुधा' एम. ए., साहित्यरत्न

ध्यान एक सर्वोत्तम साधना है। साधना का क्षेत्र भी बड़ा जटिल और विस्तृत है। निर्दिष्ट साध्य को प्राप्त करने के लिए साधना करना अनिवार्य है। किन्तु उसका लक्ष्य जीवन को निर्मल, पवित्र तथा उज्ज्वल बनाने का होना चाहिये। आन्तरिक विकारों का शमन करना ध्यान-साधना का मुख्य लक्ष्य है। तत्त्वचिन्तन की भावना का विकास करके मन को किसी एक पदार्थ या तत्त्व के चिन्तन पर स्थिर करना ध्यान है।

ध्यान मानसिक प्रक्रिया है, जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मानस क्षेत्र में की जाती है। मानसिक क्षेत्र में स्थापित की हुई वस्तु हमारे चिन्तन का प्रधान केन्द्र बनती है तथा उसकी ओर मस्तिष्क की अधिकांश शक्तियां खिंच जाती हैं। फलस्वरूप एक स्थान पर उनका केन्द्रीयकरण होने लगता है। जिस प्रकार चुम्बक अपने चारों ओर बिखरे हुए लोह-कणों को सब ओर से खींचकर अपने पास जमा कर लेता है, इसी प्रकार ध्यान द्वारा बिखरी हुई समस्त चित्त-वृत्तियां एक ही केन्द्र पर सिमट आती हैं।

एक छोटी-सी कहावत है—"जैसी मनसा, वैसी दशा।" ध्यान के विषय में भी यही बात है। जैसा ध्यान किया जाता है, मनुष्य वैसा ही बनने लगता है। जिस प्रकार किसी साँचे में गीली मिट्टी को दबाने से मिट्टी की आकृति साँचे के अनुसार बन जाती है। कीट और भृङ्ग का उदाहरण भी इसी बात को स्पष्ट करता है। कहा जाता है—भृङ्ग झींगुर को पकड़ कर ले आता है और उसके चारों ओर लगातार गुञ्जन करता रहता है। झींगुर उस गुञ्जन को तन्मय होकर सुनता रहता है और भृङ्ग के रूप को तथा उसकी चेष्टाओं को एकाग्रतापूर्वक निहारता रहता है। परिणाम यह होता है कि झींगुर का मन भृङ्गमय हो जाने के कारण उसका शरीर भी उसी ढाँचे में ढलता जाता है और उसके रक्त, मांस, नस, नाड़ी, त्वचा, मन आदि में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। थोड़े समय में ही झींगुर मन और शरीर से भी असली भृङ्ग के समान बन जाता है। इसी प्रकार ध्यानशक्ति के द्वारा साधक का सर्वाङ्गपूर्ण काया-कल्प हो जाता है। इस प्रकार कोई आदर्श, लक्ष्य या इष्ट निर्धारित करके उसमें लीन हो जाने को ही 'ध्यान' कहते हैं।

स्वामी शिवानन्द के शब्दों में—"ध्यान मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र राजमार्ग है। ध्यान एक रहस्यमयी सीढ़ी है जो अवनी और अम्बर को मिलाती है तथा साधक को ब्रह्म के अमरलोक की ओर ले जाती है।" किसी अन्य विद्वान् ने भी कहा है—

"ध्यान ही वह गगन है जहाँ गगन—मानव मन के अमित बलशाली आराध्य की तस्वीर खींचने में दैवी चितेरे भी असफल होते आए हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा में अनन्त असाधारण शक्तियां छिपी हुई हैं, जिन्हें साधक ध्यान आदि क्रियाओं से प्राप्त कर सकता है, वे कहीं बाहर से नहीं आती हैं। इसी बात को बड़े सुन्दर ढंग से अन्योक्ति द्वारा उर्दू के कवि सीमोब ने कहा है—

तू क्या समझेगा ऐ बुतसाज ! यह पर्दे की बातें हैं।
तराशा जिसको भी, पहले से वह तस्वीर पत्थर में ।।

इसका भाव यही है कि आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है, किन्तु आवश्यकता है उसे जानने एवं विकसित करने की। यह तभी हो सकता है जब साधक अपना एक उच्चतम लक्ष्य बनाये और उसे केन्द्र बनाकर तन्मयतापूर्वक अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को उस पर स्थिर करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे।

सभी महापुरुषों ने अपने-अपने शब्दों में एक ही बात कही है—"अपने अन्दर देखो, अपने आपको पहचानो, सारे विश्व का परिचय पा जाओगे।"

रामकृष्ण परमहंस ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—"हिरण कस्तूरी का सुगन्ध-स्रोत जानने के लिए सारी दुनिया छान मारता है, यद्यपि वह उसके अन्दर ही रहता है।"

गीता में भी कहा है—"ध्यान बौद्धिक ज्ञान से उत्तम है।"

जैनदर्शन के महान् दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?"

अर्थात् आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। ज्ञान और आत्मा दो नहीं एक ही हैं। आत्मा की व्याख्या करते हुए जैन मनीषियों ने बताया—

"केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिन्तए णाणी ।।

आत्मा एकमात्र केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप है, संसार के सर्व पदार्थों को जानने-देखने वाला है। वह स्वभावतः अनन्त शक्ति का धारक और अनन्त सुखमय है।

वास्तव में ध्यान ऐसा वायुयान है जो साधक को अनन्त और अक्षय शांति के साम्राज्य की ओर उड़ा ले जाता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि साधक मन को पूर्ण रूप से वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त करे और बुद्धि में चंचलता न रखे। तभी वास्तविक ध्यान हो सकता है।

मन को स्थिर रखने के साथ ही साथ ध्यान करते समय साधक किस आसन से बैठे, इसका भी ध्यान रखना चाहिए। योगशास्त्र में कहा है—

सुखासनसमासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लवः ।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो, दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ।।
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुखो वाप्युदङ्मुखः ।
अप्रमत्तः सुसंस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत् ।।

अर्थात् साधक अथवा ध्याता ऐसे आरामदेह आसन से बैठे कि जिससे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो। दोनों ओष्ठ मिले हुए हों। नेत्र नासिका के अग्र-

आसअस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाग पर टिके हुए हों। ऊपर के दांत नीचे के दांतों का स्पर्श न करते हों। मुख-मण्डल प्रसन्न हो। पूर्व या उत्तर में मुंह हो। प्रमादरहित हो तथा मेरुदंड बिलकुल सीधा रहे इत्यादि।

इसके लिए पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन तथा कायोत्सर्गादि अनेक आसन बताये गये हैं। अगर शरीर निर्बल हो तो उस अवस्था में लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को तीन बातें जाननी आवश्यक हैं—

(१) ध्याता—ध्यान करने वाले में कैसी योग्यता होनी चाहिए ?

(२) ध्येय—जिसका ध्यान करना है, वह वस्तु कैसी है ? तथा

(३) ध्यान—ध्यान की सामग्री कैसी है ?

जो साधक प्राण-नाश का अवसर आ जाने पर भी संयमनिष्ठा को न छोड़े, अन्य प्राणियों को आत्मवत् देखे, सर्दी-गर्मी और आंधी-पानी से भी विचलित न हो, कषायों से रहित और काम-भोगों से विरक्त रहे, मानापमान में समभाव रखे, प्राणियों पर करुणा तथा मैत्रीभाव रखे, परिषह तथा उपसर्गादि आने पर भी मेरु की तरह अडिग रहे, वही सच्चा व श्रेष्ठ ध्याता है, साधक है।

ध्येय को ज्ञानी पुरुषों ने चार प्रकार का माना है। ये चारों ध्यान के आलम्बन रूप होते हैं—(१) पिंडस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ तथा (४) रूपातीत।

(१) पिंडस्थ—पिण्डस्थ ध्यान पिण्ड से सम्बन्धित है। इसमें पांच धारणाएँ होती हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मारुति, (४) वारुणी तथा (५) तत्त्वभू।

पिण्ड अनेक तरह के होते हैं। उनमें चौदह राजू लोक की उपमा नाचते हुए भोपे के रूप में दी है। उस पिण्ड का चिन्तन करना तथा हेय-ज्ञेय-उपादेय का चिन्तन कर, हेय-ज्ञेय को यथायोग्य जानना और छोड़ना, उपादेय जो आध्यात्मिक निज स्वरूप है, उसको ग्राह्य करते हुए समुद्र-मन्थन की तरह लोक-मन्थन का निष्कर्ष आध्यात्मिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से लोकरूप पिण्ड का चिन्तन पिण्डस्थध्यान के अन्तर्गत आता है।

(२) पदस्थ—नाभि में सोलह पंखुड़ी के, हृदय में चौबीस पंखुड़ी के और मुख पर आठ पंखुड़ी के कमल की तरह स्थापना करना और प्रत्येक पंखुड़ी पर पंच परमेष्ठी मंत्र के अक्षरों की स्थापना करके उनका एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना पदस्थध्यान है।

(३) रूपस्थ—सशरीर अरिहन्त भगवान् की शान्तमुद्रा का स्थिरचित्त से ध्यान करना रूपस्थध्यान है।

(४) रूपातीत—रूप रहित निरंजन, निर्मल सिद्ध भगवान् का ध्यान करना रूपातीत-ध्यान है।

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।"[1]

अर्थात् उत्तम संहनन वाले साधक द्वारा किसी एक विषय में अन्तःकरण की विचार-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९।२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारा को स्थापित करना ध्यान का लक्षण है। अर्थात् चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाने को 'ध्यान' कहते हैं। आचार्यों ने ध्यान की संसिद्धि हेतु प्रारम्भिक साधक को मन एकाग्र करने का सुगम और सरल उपाय मन्त्र जप आदि बताया है। चल अध्यवसाय चित्त है तथा स्थिर अध्यवसाय ध्यान है। ध्यान का प्रथम रूप चित्त का निरोध करना है। द्वितीय रूप मन, वचन तथा काया का पूर्ण रूप से निरोध करना है। साधारणतया मन की विचारधारा प्रतिपल बदलती रहती है और अन्य-अन्य दिशाओं में प्रतिक्षण बहती हुई हवा में स्थित दीपशिखा की भांति अस्थिर होती है। ऐसी चिन्तनधारा को प्रयत्नपूर्वक अन्य विषयों से हटाकर एक ही विषय में रखना ध्यान है। तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता वाचक उमास्वाति ने लिखा है—"**आ मुहूर्तात्**"[1] अर्थात् ऐसा ध्यान अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। ध्यान का यह स्वरूप छद्मस्थ में ही संभव है, इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है। योगशास्त्र में कहा है—

मुहूर्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
वह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-संततिः॥[2]

अर्थात् अन्तर्मुहूर्त से आगे आलम्बन भेद से ध्यानान्तर हो सकता है, किन्तु एक विषयक ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं हो सकता। अन्य वस्तु पर चिन्तनधारा का संक्रमण होने पर ध्यान की धारा अन्तर्मुहूर्त से अधिक भी चल सकती है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि एक दिवस या एक अहोरात्र तक अथवा अधिक काल तक ध्यान किया।

अंतोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

अर्थात् एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल के लिए चित्त को एकाग्र करना छाद्मस्थिक ध्यान है और योगनिरोध अयोगी जिनों का ध्यान है।

ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है। प्रस्तुत बिन्दु को सभी दर्शनों में स्वीकार किया है। इसके लिए सर्वप्रथम अहंकार एवं ममकार का विसर्जन आवश्यक होता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए अनुप्रेक्षाओं का निर्देश किया गया है। एकत्वभावना का अभ्यास करनेवाला अहं के पाश से मुक्त हो जाता है। अनित्यभावना का अभ्यास करनेवाला ममकार के पाश से मुक्त हो जाता है।

जैन आगम साहित्य में ध्यान के चार प्रकार बताये हैं।[3] ध्यान के वर्गीकरण में प्रथम दो ध्यान आर्त्त और रौद्र उपादेय नहीं हैं। धर्म एवं शुक्ल ये अंतिम दो ध्यान उपादेय हैं।

आर्त्तध्यान में कामाशंसा और भोगाशंसा की प्रधानता रहती है। आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं—

(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसे दूर करने का बार-बार चिन्तन करना।
(२) मनोज्ञ (प्रिय) वस्तु का संयोग होने पर उसका वियोग न हो, ऐसा बार-बार चिन्तन करना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।२८
२. योगशास्त्र, प्रकाश ४, श्लोक ११६
३. चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा....। —स्थानांगसूत्र, स्थान ४/१, पृ. २२२

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) आतंक—घातक रोग होने पर उसके दूर करने का बार-बार चिन्तन करना।

(४) भविष्यत्काल में—आगामी जन्म में विषयभोगों या ऐश्वर्य आदि को प्राप्ति के लिए एकाग्रतापूर्ण चिन्तन करना।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं—

(१) आक्रन्दन करना अर्थात् उच्चस्वर से बोलते हुए रोना।

(२) शोक करना—दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

(३) आँसू बहाना।

(४) परिदेवनता—करुणाजनक विलाप करना।[1]

रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है—

(१) हिंसानुबंधी—निरन्तर जिसमें हिंसा का अनुबन्ध हो।

(२) मृषानुबन्धी—असत्य भाषण सम्बन्धी एकाग्रता।

(३) स्तेयानुबन्धी—निरन्तर चोरी करने-कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी एकाग्रता।

(४) संरक्षणानुबन्धी—परिग्रह, सन्तान आदि के संरक्षण हेतु दूसरे का उपघात करने की कषायमयी वृत्ति रखना अर्थात् जिसमें विषयभोग के साधनों का अनुबन्ध हो।

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं।

(१) उत्सन्नदोष—प्रायः हिंसा में प्रवृत्त रहना।

(२) बहुदोष —हिंसादि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

(३) अज्ञानदोष—अज्ञानवश हिंसादि में प्रवृत्त होना।

(४) आमरणान्तदोष—मरणपर्यंत क्रूरकर्मों के लिये पश्चात्ताप न करना अर्थात् हिंसादि में लगा रहना।[2]

प्रस्तुत लक्षण स्थानांग, भगवती एवं ध्यानशतक के अनुसार बताये हैं। रौद्रध्यान में क्रूरता की प्रधानता रहती है। रौद्रध्यानी दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है। ऐहिक एवं पारलौकिक भय से रहित होता है। पाप करके प्रसन्न होता है। जैनागमों में आर्त्तध्यान को तिर्यग्गति का कारण और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण कहा गया है। ये दोनों अप्रशस्त एवं अशुभ ध्यान हैं।

धर्मध्यान

धर्मध्यान, शुक्लध्यान की भूमिका तैयार करता है। शुक्लध्यान मुक्ति का साक्षात् कारण है। सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान रहता है। आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारम्भ होता है।

धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये चार प्रकार हैं।

धर्मध्यान के चार ध्येय बतलाये गए हैं। ये अन्य ध्येयों के संग्राहक या सूचक हैं।

---

१. स्थानांग सूत्र, ४।१ पृ० २२२

२. वही. पृ० २२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितने द्रव्य और पर्याय होते हैं, उतने ही ध्येय होते हैं। यों ध्येय अनन्त हैं, उन अनन्त ध्येयों का उपर्युक्त चार प्रकारों से समासीकरण किया गया है।

(१) आज्ञाविचय प्रथम ध्येय है। इसमें प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा प्रतिपादित सभी तत्त्व ध्याता के लिए ध्येय बन जाते हैं। ध्यान का अर्थ तत्त्व की विचारणा नहीं है। उसका अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार करना। धर्मध्यान करने वाला आगम में निरूपित तत्त्वों का आलम्बन लेकर उनका साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। इसमें वीतराग प्रभु की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए इस प्रकार चिन्तन किया जाता है कि यह वीतराग-वाणी परम सत्य है, तथ्य है, निश्शंक है।

(२) अपायविचय द्वितीय ध्येय है। इसमें द्रव्यों के संयोग और उनसे उत्पन्न विकार या वैभाविक पर्याय ध्येय बनते हैं। अर्थात् दोषों के दुष्परिणामों का चिन्तन करना और उनसे बचने की भावना रखना अपायविचय है।

(३) विपाकविचय में द्रव्यों के काल, संयोग आदि सामग्रीजनित परिपाक, परिणाम या फल ध्येय बनते हैं। वैसे अनुभव में आने वाले कर्मफलों में से कौन-सा फल किस कर्म के कारण है, कौन-से कर्म का क्या फल है, इसके विचार में मन को एकाग्र करना विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचय चतुर्थ ध्येय है। यह आकृति विषयक आलम्बन है। इसमें परमाणु से लेकर विश्व के अशेष द्रव्यों के संस्थान ध्येय बनते हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य और उनकी पर्याय, जीव, अजीव के आकार, लोक, द्वीप, सागर, जीव-गति-आगति, लोक-स्थिति, नरक, विमान, भवन आदि के आकार के चिन्तन में चित्त को एकाग्र करना संस्थान-विचय है।

धर्मध्यान करने वाला उक्त ध्येयों का आलम्बन लेकर परोक्ष को प्रत्यक्ष की भूमिका में अवतरित करने का अभ्यास करता है।

धर्मध्यान के अधिकारी—अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत, इन सबको धर्मध्यान करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है।

धर्म को ध्येय बनाने वाला ध्यान धर्मध्यान कहलाता है। अथवा तत्त्वों और श्रुत-चारित्ररूप धर्म के सम्बन्ध में सतत चिन्तन धर्मध्यान कहलाता है। तत्त्व सम्बन्धी विचारणा, हेयोपादेय सम्बन्धी विचारधारा तथा देव-गुरु-धर्म की स्तुति आदि धर्मध्यान के अंग हैं, शर्त यह है कि इसमें तल्लीनता हो।

धर्मध्यान के चार लक्षण हैं—आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढरुचि या उपदेशरुचि। तत्त्वार्थ का श्रद्धान धर्मध्यान का मुख्य लक्षण है। वीतराग देव एवं साधु मुनिराज के गुणों का कथन करना, भक्तिपूर्वक श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखना—ये धर्मध्यान के चिह्न हैं। इनसे धर्मध्यान की पहचान होती है।

धर्मध्यान के चार आलम्बन—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एवं अनुपेक्षा हैं।

धर्मध्यान की चार अनुपेक्षाएँ कही गई हैं—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना।

(२) अनित्यानुप्रेक्षा—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

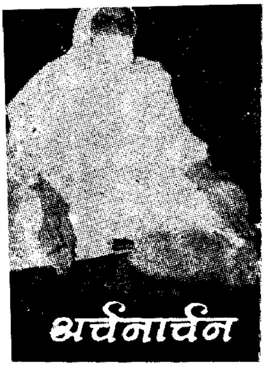

(३) अशरणानुपेक्षा—अशरणदशा का अनुचिन्तन करना।
(४) संसारानुप्रेक्षा—संसारपरिभ्रमण का चिन्तन करना।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान के चार चरण हैं। उनमें प्रथम दो चरणों—पृथक्त्ववितर्क-सविचार और एकत्ववितर्क-अविचार के अधिकारी श्रुतकेवली (चतुर्दशपूर्वी) होते हैं।[1] इस ध्यान में सूक्ष्म द्रव्यों और पर्यायों का आलम्बन लिया जाता है, इसलिए सामान्य श्रुतधर इसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। आत्मा पर लगे आठ कर्मरूपी मैल को धोकर जो उसको स्वच्छ, धवल बना देता है, वह शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान के चार पाये कहे हैं। जैसे—

१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन तथा काया में से एक-दूसरे में संक्रमण होता रहता है, शुक्लध्यान की उस स्थिति को पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहा जाता है। पृथक्त्ववितर्क-सविचार नामक यह शुक्लध्यान का प्रथम भेद है।

२. एकत्ववितर्क-अविचार

जब द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन लिया जाता है, जहाँ पर शब्द, अर्थ तथा मन, वचन, काया में से एक दूसरे में संक्रमण रुक जाता है, शुक्लध्यान की प्रस्तुत स्थिति एकत्ववितर्क-अविचार है। इस ध्यान में पृथक्त्ववितर्क-सविचार ध्यान की अपेक्षा अधिक स्थिरता आ जाती है। इस ध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है।

३. सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति

जब मन और वाणी के योगों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है, किन्तु काययोग का पूर्ण निरोध नहीं होता है, श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया अवशेष रहती है, उस अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसका निवर्तन—ह्रास नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

४. समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति

जब सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, ध्यान की उस अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट अवस्था को समुच्छिन्नक्रिय कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है। यह ध्यान मुक्ति का साक्षात् कारण है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरि-कृत योगबिन्दु के आधार पर शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों की तुलना संप्रज्ञात-समाधि से की है।[2] संप्रज्ञात-समाधि के चार प्रकार हैं—

---

१. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। —तत्त्वार्थसूत्र ९।३९

२. तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काविचाराख्य शुक्लध्यानभेदद्वये संप्रज्ञात....सम्यक्.... प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा। जैनदृष्ट्या परीक्षितपातञ्जलयोगदर्शनम्, १।१७,१८
—योगबिन्दु ४१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।[1] उन्होंने शुक्लध्यान के शेष दो चरणों की तुलना असंप्रज्ञात समाधि से की है।[2] प्रथम दो चरणों में आए हुए वितर्क और विचार शब्द जैन, बौद्ध और योगदर्शन तीनों की ध्यानपद्धतियों में समान रूप से मिलते हैं। जैन साहित्य के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ संक्रमण है।[3]

आचार्य अकलंक ने ध्यान के परिकर्म का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—उत्तम शरीरसंहनन होकर भी परिषहों के सहने की क्षमता का आत्मविश्वास हुए बिना ध्यानसाधना नहीं हो सकती है। परिषहों की बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह, नदी, तट, शून्यागार आदि किसी स्थान में व्याघ्र, सिंह, मृग, मनुष्य आदि के अगोचर, निर्जन्तु, समशीतोष्ण, अतिवायुरहित, वर्षा, आतप आदि से रहित पवित्र भूमि पर सुखपूर्वक पल्यङ्कासन में बैठना चाहिए। उस समय शरीर को सम, ऋजु और निश्चल रखना चाहिए। बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर न खुले हुए और न बन्द, किन्तु कुछ खुले हुए दाँतों पर दाँतों को रखकर सीधी कमर व प्रसन्नमुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, हास्य, भय आदि छोड़कर मन्द श्वासोच्छ्वास लेने वाला साधक ध्यान की तैयारी करता है। वह नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक या नासाग्र पर चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है। इस तरह एकाग्रचित्त होकर द्रव्य-पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त हो अर्थ और व्यञ्जन तथा मन, वचन, काय की पृथक्-पृथक् संक्रान्ति करता है।[4]

ध्यान की सिद्धि के लिए रामसेन ने गुरु का उपदेश, श्रद्धा, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमन, ये चार बातें आवश्यक मानी हैं।

ध्यान की उच्चतर स्थिति में चेतना आनन्द की ओर बढ़ती है। साधक प्रेरणा और प्रकाश के आयामों में प्रवेश करता है। ध्यान की परिणति है आत्मसाक्षात्कार। यह उच्चतर मन के भी परे है। चेतना मन के क्षेत्र को छोड़कर सत्ता के बीज-कोष आत्मा के साथ एकाकार हो जाती है। यही शुद्ध चेतना की स्थिति है, जहाँ पहुँचने पर मनुष्य का अपनी केन्द्रीय सत्ता से सम्पर्क स्थापित होता है। ध्यान हमारी पूर्वार्जित सम्पत्ति है। इसका अनुभव हम सहज ही कर सकते हैं। हम जो हैं और जो चाहते हैं, उनके बीच यदि ऐक्य स्थापित हो जाए, तब ध्यान सहज ही लग सकता है।

ध्यान एक निजी अनुभव

ध्यान न तो निद्रा है, न सम्मोहन ही। यह इनसे परे एक अत्यन्त स्वस्थ स्थिति है, जिसमें मनुष्य अपने अन्दर चल रहे तनावों आदि के प्रति सजग होकर उन्हें समय रहते दूर करने का अवसर पा जाता है। व्याधि दूर करने का यह सर्वश्रेष्ठ तरीका है। नित्य

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः। —पातञ्जलयोगदर्शन १।१७

२. क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ....केवली नोसंज्ञीत्युच्यते।

—जैनदृष्ट्या परीक्षितपातञ्जलयोगदर्शन १।१७,१८

३. विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः। —तत्त्वार्थसूत्र ९।४६

४. तत्त्वार्थवार्तिक ९।४४

उपसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रात:काल आधा घंटे का ध्यान ऐसी स्थिति ला देता है कि दिन भर के कार्यों की रूपरेखा ही बदल जाती है। आन्तरिक शान्ति और सन्तुलन का प्रभाव हर कार्य पर पड़ने लगता है। ध्यान से निराशावादिता, उदासी तथा तनाव आदि का निवारण होना अवश्यम्भावी है। मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति आनन्द की है।

ध्यान में जो शारीरिक एवं मानसिक विश्राम मिलता है, वह हमें नींद में भी नहीं मिल पाता है। ध्यान द्वारा अनेक बीमारियां दूर की जा सकती हैं। अपूर्व स्वास्थ्य-लाभ किया जा सकता है।

आधुनिक व्यस्त मानव-समाज, जो अनेक शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का शिकार बना हुआ है, ध्यान की विधि द्वारा उनसे मुक्ति पा सकता है। सर्वप्रथम ध्यान करने वाले साधक को ध्यान करने के विधान को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। ध्यान के पांच अङ्ग हैं—स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति, संस्मिति।

स्थिति से तात्पर्य है साधक की ध्यान करते समय की स्थिति। ध्यानार्थी ध्यान करने के लिए एकांत और शान्तिपूर्ण स्थान पर शारीरिक शुद्धि करके सुखासन से बैठे। उसका मुंह पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिए।

ध्यान का दूसरा अंग है संस्थिति। इससे अभिप्राय है साधक अपनी चित्त-वृत्तियों को केन्द्रित करे।

अपने उपास्य के गुणों का चिन्तन करने को विगति कहते हैं। यथा—अरिहन्तों के बारह, सिद्धों के आठ, आचार्यों के छत्तीस, उपाध्यायों के पच्चीस तथा साधु के सत्ताईस, इस प्रकार निर्धारित गुणों का भावनानुसार चिन्तन करे।

उपासना-काल में साधक के मन में रहने वाली भावना प्रगति कहलाती है। साधक गुरु, पिता, सहायक आदि जिस रूप में उपास्य को मानना चाहे, उस रूप की स्थिरता को प्रगाढ़ बनाने के लिए अपनी आन्तरिक भावनाओं को विविध शब्दों तथा चेष्टाओं द्वारा व्यक्त करे।

जिसमें साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, भक्त और भगवान् एकरूप हो जाते हैं, उस अवस्था को संस्मिति कहते हैं। दोनों में कोई भेद नहीं रहता। उपासक की भावना का एक राजस्थानी पद्य में बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है—

जल बीच कुंभ, कुंभ बीच जल है,
जल माहे तरंग समाय।

ध्यान के इच्छुक साधक में इसी प्रकार की तन्मयता और दृढता होनी चाहिए। सच्चा ध्यानार्थी वही है जो प्राण-नाश का अवसर आ जाने पर भी संयम-निष्ठा का परित्याग नहीं करता, सर्दी, गर्मी और वायु से खिन्न होकर अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता, रागादि दोषों से आक्रान्त नहीं होता, मन को आत्म-भाव में रमण कराता हुआ योग रूपी अमृत-रसायन का पान करने का इच्छुक होता है, शत्रु-मित्र पर समान भाव रखता हुआ संसार के प्रत्येक प्राणी की कल्याणकामना करता है और परिषह-उपसर्ग आने पर भी सुमेरु के समान अटल रहता है। ऐसा ही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रबुद्ध साधक प्रशंसनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है। ध्यान का परम प्रकर्ष होने पर ध्याता ध्येय रूप हो जाता है, उसकी आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर लेती है। सभी विकल्प नष्ट हो जाते हैं और आत्मा सिद्धपद को प्राप्त कर लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान का सबसे उत्तम समय प्रातःकाल और संध्याकाल है। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में बिना हिले-डुले आराम से बैठ जाना। सारे शरीर के कंपन को छोड़ देना और रीढ को एकदम सीधा कर लेना चाहिये। आँखें बन्द करके बहुत धीमी श्वास लेना, श्वास को देखते रहना, फिर बड़ी धीमी गति से श्वास को छोड़ना चाहिये। यदि बैठकर ध्यान करना है तो मेरुदण्ड सीधा रहे, इस बात का पूरा ध्यान रहना चाहिये। शरीर एकदम स्थिर रहे। ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व पांच-दस मिनट तक स्थिर बैठना। अपने विचारों को रोकना नहीं। विचार को आने दीजिए और उसे देखिये। प्रत्येक विचार को देखना, किन्तु साक्षी बनकर ही देखना चाहिए।

ध्यान दो प्रकार के हैं—सक्रिय एवं निष्क्रिय।

(१) **सक्रिय ध्यान**—वास्तव में योग का उद्देश्य यह है कि सामान्य जीवन के कर्म-सम्पादन में भी मनुष्य ध्यान की अवस्था में रह सके। यही सक्रिय ध्यान है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह दैनिक कार्यों के प्रति अन्यमनस्क हो जाय, बल्कि यह है कि वह अधिक तत्परता एवं दक्षता से कार्य सम्पन्न करे। निष्क्रिय ध्यान के माध्यम से भी सक्रिय ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है।

(२) **निष्क्रिय ध्यान**—निष्क्रिय ध्यान में एक आसन में बैठकर ध्यान का अभ्यास किया जाता है। चंचल मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना ही इसका उद्देश्य है। निष्क्रिय ध्यान से मन शान्त रहता है और अन्तर्मुखता आती है।

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कम्पं जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम्॥

—योगशास्त्र

ध्यान के लिए समभाव अनिवार्य है। समभाव के बिना ध्यान नहीं होता और ध्यान के बिना समता नहीं आती। दोनों में परस्पर कार्य-कारण भाव है।

ध्यान आत्मा के लिए महान् हितकारी माना गया है। ध्यान से आत्मज्ञान प्राप्त होता है तथा आत्मज्ञान से कर्मों का क्षय होता है। कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्रद्धेया पूज्य गुरुवर्या महासती श्री अर्चनाजी महाराज प्रति दिन तीन बार ध्यान में विराजते हैं। सद्गुरुवर्या जो केन्द्र बनाकर ध्यान करते हैं, उनकी दो-दो, तीन-तीन घण्टों की समाधि लग जाती है। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। प्रत्येक मुमुक्षु साधक एवं साधिका के लिए ध्यानयोग अतीव उपकारक है। ध्यानसाधना से जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन आ जाता है और जब साधक का जीवन परिवर्तित हो जाता तो समग्र सृष्टि का उसके लिए रूपान्तरण हो जाता है।

—अध्यात्मजगत् की परम साधिका
श्री उमरावकुंवरजी म. सा. 'अर्चना' की सुशिष्या

□□

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org